उत्तराखण्ड के लोक वाद्य

Dr. Kalika Kaley
Assistant Professor,Rishikesh] Uttrakhand
Dr. Mritunjay Sharma
Department of Music, Himachal Pradesh University, Simla

शास्त्रकारों ने गीत, वाद्य और नृत्य के सम्मिलित रूप को संगीत कहा है। गीत स्वर समूह का प्रतिफल है और स्वर का आदि स्त्रोत नाद है। नाद स्वयंभू है। संस्कृत में नाद शब्द का सामान्य अर्थ अव्यक्त ध्वनि माना जाता है। नाद अथवा ध्वनि के आहत व अनाहत दो प्रकार होते हैं। जो ध्वनि किसी प्रकार के आघात, घर्षण या दो चीजों के टकराने से उत्पन्न होती है उसे आहत नाद कहते हैं, और जो ध्वनि बिना किसी आघात के उत्पन्न होती है उसे अनाहत नाद कहते हैं, अनाहत नाद को केवल परमयोगी ही समझ सकते हैं।

आहत नाद से जो स्वर उत्पन्न होते हैं, उन्हीं से संगीत की सृष्टि होती है, जब मानव अपने मन के भावों को कंठ स्वर से लययुक्त नाद के माध्यम से व्यक्त करता है तो नैसर्गिक संगीत उत्पन्न होता है। सदैव से भारतवासियों का जीवन संगीतमय रहा है। यहाँ प्रत्येक के जीवन पर संगीत का प्रचूर प्रभाव रहा है। भारतीय संगीत प्रकृति और आध्यात्म दोनों पर आधरित है। भारतीय संगीत के लिए ऐसा कहा गया है कि साहित्य से, बह्मा का ज्ञान और संगीत से ब्रह्मा की प्राप्ति होती है। लय, स्वर व ताल में जब नैसर्गिक संगीत चलता है तो वह सहज धुन होती है। लोकधुन का उद्भव व विकास एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। लोक ऐसी धुनों को समेट कर आगे बढ़ाता है।

लोक जीवन में भी मानव की अन्तर्वृतियों का मौलिक रूप मिलता है। अतः लोकहृदय की भावनाएँ व कल्पनाएं जब स्वरों के माध्यम से प्रकट की जाती है तो वह नैसर्गिक संगीत का रूप होता है। यही नैसर्गिक संगीत लोक संगीत है। लोक संगीत जहाँ अतीत की देन है वहीं भविष्य की कल्पना है। लोकगायक तथा लोकवादक पुरानी परम्पराओं को आगे बढ़ाकर नवीन लयकारी को उसमें जोड़ते हैं। लयात्मकता के कारण ही लोकसंगीत सदैव, आकर्षण का केन्द्र बिन्दु रहा है। यह मानव जीवन में स्फूर्ति का संचार करता है और आत्मा को निखारता है।

वाद्य शब्द का पारिभाषिक अर्थ

मानव जीवन में वाद्यों का प्रमुख स्थान रहा है। पौराणिक गाथाओं में भी हम वाद्यों को किसी न किसी रूप में पाते हैं। लोक जीवन में आन्नद और उत्साह बढ़ाने में वाद्यों का सदैव प्रयोग होता

आया है। गीत व नृत्य दोनों ही वाद्यों पर आश्रित होते हैं, अतः लोकजीवन में कलाओं को सुरक्षित रखने के लिए वाद्यों का सदैव ही प्रयोग किया गया है।

'वाद्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ है– 'बजाने योग्य यंत्र विशेष, यह शब्द 'वद्व' धातु; जिसका अर्थ है बोलना, में 'यत्' प्रत्यय लगाने से बना है। संगीत में वाद्यों का अपना पृथक स्थान है। वाद्य यन्त्रों से हमें स्वरों में पिरोये हुए शब्दों का उच्चारण सुनाई देता है और यही वाद्ययंत्रों की सफलता की कसौटी है। संगीतात्मक ध्वनि तथा गति को प्रकट करने वाले उपकरण वाद्य कहलाते हैं। विभिन्न वाद्यों द्वारा उद्भूत स्वर तथा लय का आनन्द वाद्य संगीत कहलाता है। वाद्य में स्वर व लय के माध्यम से श्रोताओं को चिरकाल तक आनन्दानुभूति में समाये रखने की अद्भुत क्षमता होती है।

लोकसंगीत में भावों के उद्दीपन तथा संगीत को सजीव बनाने के लिए विविध वाद्यों की आवश्यकता होती है। लोकनृत्य व लोकगीत, लोकवाद्यों के वादन द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। लोक वाद्यकार विभिन्न प्रकार के लोकनृत्यों में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों में पारंगत होते हैं। लोक संगीत इन्हीं कुशल वाद्यकारों की वादन कला द्वारा सुरक्षित हैं। लोकधुनों को जो स्वरूप निर्धारित हुआ है, उसका निर्वहन आज भी लोक वाद्यकारों द्वारा किया जाता है, लोकवाद्यों की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

संगीत का मानव समाज के साथ एक अटूट सम्बन्ध रहा है और इसलिए लोकसंगीत के वाद्य भी प्रमुख रहे हैं, क्योंकि लोक वाद्यों का किसी क्षेत्र विशेष तथा वहां के रहने वालों की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत धर्मिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन के निकट का सम्बन्ध रहता है। इसलिए इन वाद्यों का सम्बन्ध व प्रयोग देखने पर ही उन्हें 'लोक वाद्य' की संज्ञा दी गई है। विश्व की विभिन्न जातियों के द्वारा व्यापार अथवा अन्य कार्य हेतु अन्य देशों में यात्र के कारण इन लोक–वाद्यों का भी आदान–प्रदान काफी संख्या में हुआ तभी एक दूसरे देश के लोक वाद्यों का स्वरूप या आकार कई बार एक जैसा या मिलता–जुलता प्रतीत होता है। हमारे बहुत से प्राचीन लोक–वाद्य अब लुप्त हो चुके हैं तथा अब उनका प्रयोग बहुत ही कम दिखाई देता है, फिर भी मानव जीवन में 'लोक वाद्य', लोक संगीत के प्राण हैं।

विभिन्न वाद्य अपने ध्वनि के आधार पर विभिन्न रसों की निष्पत्ति करते हैं। संगीत में भावों के उद्दीपन और संगीत को सजीव बनाने के लिए विभिन्न वाद्यों की आवश्यकता होती है। विशिष्ट वातावरण में रस तथा भावों की सृष्टि के लिए विशिष्ट तालों का प्रयोग किया जाता है, उदाहरणार्थ मंदिर में धर्मिक वातावरण के सृजन हेतु घण्टा, घड़ियाल, शंख, मंजीरा आदि वाद्य प्रयोग में लाये जाते हैं तबला, नाल आदि वाद्यों से उत्पन्न ध्वनि में चंचलता एवं मधुरता होती है। नगाड़ा, धौंसा, मादल

आदि की ध्वनि में गाम्भीर्य होता है। भय, रोष तथा आवेश को उत्पन्न करने वाली ध्वनियाँ भी नगाड़ा, धौंसा, ढोल आदि से उत्पन्न की जाती है।

लोक वाद्यों की निर्माण विधि

लोक वाद्यों का निर्माण अधिकतर उस क्षेत्र विशेष के एक वर्ग के लोग ही करते हैं। जिस प्रकार कुछ लोक वाद्यों का वादन पीढ़ी–दर–पीढ़ी सीख कर लोग करते हैं उसी प्रकार इन वाद्यों को बनाने में भी विशेष तकनीक का प्रयोग होता है जो केवल सीखने से ही आता है। ये निर्माणकर्त्ता विशेष जाति अथवा वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। ढोल जैसे ताल वाद्य हेतु सबसे पहले लकड़ी का खोल बनाया जाता है। प्राचीन काल में यह खोल मिट्टी का होता था जिसे गांव का कुम्हार बनाता था। ढोल वाद्य के लिए लकड़ी का खोल बनाकर उसे सही गोलाई देकर उसे बीच से खरोदा जाता था अर्थात उसमें बड़ा गोलाकार छेद किया जाता है। खोल तैयार हो जाने के बाद इसके दोनों मुखों पर चमड़ा मढ़ा जाता है। यह लोग भैंस, बकरी तथा अन्य जानवरों की खाल को सुखाकर इन वाद्यों के मुखों पर मढ़ते हैं।

उत्तराखण्ड के लोक वाद्य एवं वर्गीकरण

उत्तराखण्ड के लोक वाद्यों का प्रचलन कब और कैसा हुआ यह कहना कठिन है। प्रदेश के इतिहास में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख कहीं नहीं मिलता है फिर भी यह कहा जा सकता है कि लोकवाद्यों का उद्‌भव यहां की धार्मिक मान्यताओं से सम्बद्ध है। पारम्परिक लोकवाद्यों का अपना एक अलग–अलग आकार, रचना, नाम व वादन शैली है तथा लोकसंगीत में इनका अपना प्रयोग एवं महत्व है। प्रदेश में पाये जाने वाले लोकवाद्यों को भी चार वर्गों में बांटा गया है।

1. तत् वाद्य – एकतारा, सारंगी।
2. अवनद्ध वाद्य – ढोल, दमाँऊ, ढोलक, हुड़का, हुड़की, नगाड़ा, डमरू।
3. घनवाद्य – थाली, घण्टा, मंजीरा, घडियाल, घुंघुरू, करताल, खंजरी, झांझ, चिमटा।
4. सुषिर वाद्य – तुर्री, रणसिंघा, भंकोरा, मोछांग, बांसुरी, मसकबाजा।

ताल वाद्य रचना बनावट एवं वादन विधि

ढ़ोल

उत्तराखण्ड में तालवाद्यों के अन्तर्गत ढोल सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय वाद्य हैं। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण अवनद्ध वाद्य है जिसका प्रयोग प्राचीनकाल से आज तक होता आ रहा है। प्रत्येक धार्मिक उत्सवों, संस्कारों इत्यादि में इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है।

उत्पत्ति

ढोल की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है–

ढोल्या पार्वती ने बटोल्या, विष्णु नारायण जी ने गडाया,
चारजुगै ढोल मुंडाया, ब्रह्मा जी ने ऊपरी कन्दोटी चढ़ाया।

अर्थात् ढ़ोल ईश्वर ने लाया, पार्वती जी ने उसे एकत्र किया, विष्णु भगवान जी ने ढ़ोल को रूप दिया, चारों युगों ने ढ़ोल की मढ़ाई की व ब्रह्मा जी ने उसके ऊपर कन्दोटी चढ़ाई।

रचना एवं आकार

ढोल के अंगों के नाम निम्न हैं–

कन्दोटी – सूत की बुनी स्कन्ध–पट्टिका।

चाक – कन्दोटी को साधने वाले ताम्र कुण्डल।

बिजैसार – ढ़ोल के दक्षिण और बाम खण्डों को जोड़ने वाले डेढ़ इंच पीतल की पट्टिका।

पुड़ी – ढ़ोल के दायें और बायें मुखों पर मढ़ी जाने वाली चर्माच्छादिनी।

कुण्डली – पुड़ी को सम्भालने वाली बांस की कुण्डली।

त्रिदेव – बिजैसार के दोनों छोरों को जोड़ने वाली तीन ताम्र मेखलाएँ।

कस्णिका – सूत की या चमड़े की बनी ढ़ोल को सुर में करने वाली गुच्छियाँ।

डोरिका – ढ़ोल पर पुडियों की साधने वाली सूत की डोरी।

लाकुड या गजाबल – बजाने की लकड़ी जिसकी लम्बाई सवा फीट होती है।

ढ़ोल की बांयी पुड़ी बकरी अथवा हिरण की मुलायम खाल की बनी होती है तथा दांयी पुड़ी भैंसे या बारहसिंगे की मोटी खाल से बनी होने के कारण लाकुड से बजाई जाती है। ढोल को इच्छानुसार सुर में करने के लिए कस्णिका के अतिरिक्त औंठी का भी उपयोग किया जाता है। औंठी 6 इंच लम्बी 1 इंच व्यास की ठोस लकड़ी की बनी होती है। कुण्डली रन्ध्र के पास स्थिर कर ढोल की खिंचाई करते समय इसके ऊपर लकड़ी की हथौड़ी से प्रहार किया जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे गट्टों की चढ़ाने के बाद हथौड़ी के प्रहार से तबले को सुर में किया जाता है। प्रायः औंठी का उपयोग नई पुड़ी चढ़ाते समय किया जाता है। कन्दोटी ढ़ोल को कन्धे पर लटकाने के काम आती है। कन्दोटी को इस प्रकार धारण किया जाता है कि दांयी ओर कन्धे से होते हुई वह छाती के ऊपर कर्णाकर रहे तथा दूसरी और पीठ पर तिर्यक बनाती हुई बांई बगल के नीचे रहे। पुंडी को साधने के लिए, कुण्डलियों का उपयोग किया जाता है। बांस की दो कुण्डलियों से एक पुड़ी बनाई जाती है। एक कुण्डली के अन्दर दूसरी कुण्डली में होती है ऐसे ही कुण्डलियों के बीच चमड़ा स्थिर किया

जाता है और इस प्रकार पुड़ी तैयार हो जाती है। पुड़ी को इसी फ्रेम पर बराबर के अन्तर से सूत की डोरिका को पिरोने के लिए 12 कुण्डली रन्ध्र किये जाते हैं। इसी आकार की दूसरी पुड़ी भी बनाई जाती है। बांई पुड़ी मुलायम होती है, जिसे मादा कहते हैं व दाईं पुड़ी मोटी खाल की बनी हाती है जिसे नर कहते हैं। ढोल के खोल के बीचोंबीच लगभग 2 इंच चौड़ी पीतल की पट्टी चिपकी होती है जिसे बिजैसार कहते हैं। बिजैसार के दोनों सिरों को तांबे की तीन मेखलाओं से जोड़ दिया जाता हैं। यही तीन मेखलाएँ त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक हैं तथा बिजैसार त्रिदेव की सामूहिक शक्ति का प्रतीक है। यह भव शक्ति विश्व को नियंत्रण में रखती है।

वादन शैली

ढोल को प्रायः खड़े होकर बायें कंधे पर लटका कर बजाते हैं। दायें हाथ में लाकुड या गजाबल के साथ इसके दायें मुख पर प्रहार किया जाता है तथा बायें मुख पर बायें हाथ से धीमी लय में आघात करते रहते हैं। इसका वादन अधिकतर अन्य वाद्यों नगाड़ा, करताल, दमाऊ, रणसिंघा इत्यादि को साथ किया जाता है। इस वाद्य का एकल वादन देखने को नहीं मिलता है। अन्य वाद्यों के साथ ही इसका वादन विचित्रता पैदा करता है। ढ़ोल का प्रयोग विभिन्न शुभ अवसरों जैसे शादी, धार्मिक कार्यों पर व्यापक रूप से होता है। प्रत्येक देवी–देवताओं के मंदिर में पूजा, आरती, यात्रा के समय इसका वादन अन्य लोक वाद्यों के साथ सामूहिक रूप से किया जाता है।

दमाऊँ (दमुवाँ)

दमाऊँ ढ़ोल के साथ आवश्यक सहायक संगतकर्ता के रूप में बजाये जाने वाला लोकवाद्य है। ढोल की प्रत्येक ताल की अवतारणा में दमौं का सहयोग सर्वथा अनिवार्य है। ढोल के बोल स्वयं में अपूर्ण हैं उनको पूर्णता देने के लिए दमौं का सहयोग अनिवार्य है। जबकि कुछ तालें दमौं पर बिना ढोल की अवतारणा के बजायी जा सकती हैं। अतः दमौं के बोल पूरक बोलों के रूप में अपरिमेय महत्व के है।

उत्पत्ति

दमाऊँ की उत्पत्ति के विषय ऐसे कोई तथ्य प्राप्त नहीं होते हैं। सिर्फ इतना ज्ञात होता है कि प्रायः युद्ध वाद्यों के साथ या राजदरबार के नगरखानों (नक्कारखानों) में होता था, परन्तु अब ढ़ोल, दमाऊँ वाद्य सम्पूर्ण उत्तराखण्ड का चहेता वाद्ययंत्र है, जिसके द्वारा धार्मिक नृत्यों से लेकर आपस के साधारण ढंग के नृत्य तक सम्पन्न किये जाते हैं। देवताओं के आह्वान के समय बाजगीर जिस लय और ताल से ढोल दमाऊँ का वादन करते हैं उस समय साधारण व्यक्ति का हृदय भी काँप उठता है।

रचना एवं आकार

दमौं की बनावट 1 फुट व्यास के लगभग 8 इंच गहरे कटोरे के समान होती है। यह भी तांबे का बना होता है। इसका वजन लगभग पांच से छः किलो तक होता है। इसके मुख पर भैंसे की मोटी खाल की पुड़ी मढ़ी जाती है। दमौं के शेष भाग पर 32 कुण्डली रन्ध्रों की सहायता से पुडी को स्थिर करने और खींचने के लिए चमड़े की तांतों की जाली बुनी जाती है। दमौं को सुर में करने के लिए कस्णिकाओं की व्यवस्था नहीं होती है। प्रारम्भ में मढ़ते समय ही इसे कसकर मढ़ दिया जाता है। मौसम में नमीं के कारण जब कभी इसका सुर गिर जाता है तो फिर वह अपनी मूल स्थिति में आ जाता है। दमौं को भी ढ़ोल की भांति कन्दोटी के माध्यम से कन्धे पर लटकाया जाता है, परन्तु बजाने के लिए सवा फीट पतली यष्टिकाओं का उपयोग किया जाता है। ये यष्टिकाएं सामान्यतः चमलाई की कच्ची लकड़ी को तेल में पकाकर बनाई जाती है। इसे ढ़ोल के सहायक वाद्य के रूप में हर जगह बजाया जाता है।

वादन शैली

दमाऊँ को जमीन पर रखकर या चलते समय कंधे में लटाकर बजाया जाता है। अकेले ही इस वाद्य को नहीं बजाया जाता। बनावट में समानता होते हुए भी आकार–प्रकार और वादन की दृष्टि से दमौं में भिन्नता पाई गई है।

हुड्का़

उत्तराखण्ड के चर्म वाद्यों में हुड़का विशेष स्थान रखता है। कुमाऊँ के स्थानीय देवता गंगनाथ का जागर केवल हुड़के पर लगाया जाता है। अध्कितर तीन दिन से 5 दिन तक के जागर हुड़के पर ही लगाए जाते है।

उत्पत्ति

हुड़के की उत्पत्ति के विषय में यह ज्ञात होता है कि मूल रूप से चारण अथवा भाटों का वाद्य था, युद्ध गीत गाते समय चंफ्रया या हुड़किया इस वाद्य को बजाते थे। यह वाद्य प्राचीन कालीन पणव, पूर्व मध्यकाल में हुड़क, मध्ययुग में आवज तथा आधुनिक युग में पुनः हुड़क कहा जाने लगा है।

रचना एवं बनावट

हुड़के का मुख्य भाग लकड़ी का बना होता है, जिसे अन्दर से खोखला कर दिया जाता है। यह वाद्य खिमारी की सूखी लकड़ी को निहानी तथा शान खराद की सहायता से चुनारा लोग हुड़के की लकड़ी की शान पर चढ़ाकर बड़ी सुन्दरता के साथ उसको आयताकार चार के अंक की शक्ल में ढ़ालता है और इस प्रकार हुड़के का फ्रेम तैयार हो जाता है। इसकी दीवाल सवा इंच मोटी होती है,

इसकी लम्बाई 1 फुट 3 इंच के लगभग होती है तथा दोनों ओर मुखों पर चढ़ाई गई पुडियों का व्यास 6 या 7 इंच से अधिक नहीं होता है। हुड़के की कमरी (मध्यभाग) की परिधि 8–10 इंच के बराबर होती है। दोनों पुडियों को बकरी की आमाशय की भीतरी खाल से बनाया जाता है और इन नाजुक पुडियों को हुड़के पर गाछों के मध्य में सूत की डोरी पिरोकर चढ़ाया जाता है तथा इस कुण्डली पर केवल कुण्डली रन्ध्र किये जाते हैं। इन्हीं कुण्डली रन्ध्रों से सवा इंच लम्बाई से सूत की छः गाँछे चढ़ाई जाती है तब सूत की डोरी इन्हीं गांछों से पिराई जाती हैं। हुड़के के कटि प्रदेश पर डोरी के ऊपर चमड़े की पट्टी अथवा सूत की पट्टी लपेट कर उसके दोनों छोरों को स्कन्ध–पट्टिका से जोड़ा जाता है। स्कन्ध –पट्टी पर छोटे–छोटे घुंघरू कभी–कभी गुंथे हुए मिलते हैं।

वादन विधि

कन्दोटी से हुड़के को कन्धे पर लटकाया जाता है और दूसरा सूत डोरी बजाते समय आवश्यकतानुसार वांछित बोल निकाले जाते हैं। हुड़का केवल दायें हाथ से बजाया जाता है और बाएं हाथ की पकड़ उसकी कमरी पर होती है तथा इसी हाथ की हरकत से कन्दोटी के द्वारा डोरी पर दबाव डाला जाता है तथा कन्दोटी पर गुंथे हुए घुंघरूओं से लयात्मक झंकार उत्पन्न की जाती है।

हुड़की

कुमाऊँ के सुदूर क्षेत्रों में रहने वाले मिरासी लोग हुड़की के कारण ही हुड़किये कहलाते हैं, हुड़की चारण व भाट लोगों का प्रमुख वाद्य रहा है।

उत्पत्ति

ऐसा माना जा सकता है कि हुड़की की उत्पत्ति भी हुड़के की तरह ही हुई होगी क्योंकि यह दोनों वाद्य देखने में एक से ही प्रतीत होते है केवल इनके आकार में भिन्नता नज़र आती है।

रचना एवं बनावट

हुड़की के दोनों मुखों का व्यास लगभग 3′–4′ होता है। इसके दोनों मुखों पर बकरे के चमड़े से बनी पुड़ी लगाई जाती है। हुड़की तांबे की बनी होती है। इसका आकार बिल्कुल हुड़के की तरह ही होता है अन्तर केवल इतना होता है कि दोनों ओर मुँह हुड़के से छोटे होते हैं तथा आवाज काफी तीखी होती है।

वादन विधि

हुड़की का वादन बिल्कुल हुड़के की तरह ही किया जाता है। कुमाऊँ में हुड़की बजाते हुए हुड़की बोल गाये जाते है। इसका प्रयोग हुडकियें चैतमास में ही गा कर करते हैं। तुरैण कई वर्ष पूर्व

सारंगी और हुड़की के बिना नहीं गाया जाता था। वर्तमान समय में यह वाद्य हुड़कियों के घर में अपेक्षित लोकवाद्य की तरह जीर्ण अवस्था में होने के कारण विलुप्त होता देखा जा रहा है।

डौंर (डमरू)

डौंर मांगलिक कार्यों, जागा–जागरों एवं उल्लास के अवसरों पर प्रयुक्त होने वाला लोकवाद्य है। डमरू से अनेक अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति हुई है। प्राचीन 'डमरू' आज डमरू नाम से प्रचलित है, जिसे पर्वतीय भाषा में डौंर कहा जाता है।

उत्पत्ति

डमरू भगवान शंकर के सम्बन्धि माना गया है। यह अत्यन्त प्राचीन वाद्य है। कहा जाता है कि तांडव नृत्य करते समय भगवान शिव डमरू का वादन करते थे। अतः डमरू को शंकर भगवान का प्रतीक वाद्य माना जाता है। प्रसिद्ध धर्मिक ग्रंथों के अनुसार शिव का वाद्य डमरू है। कहा जाता है कि पाणिनी के तप से प्रसन्न हो, शिव ने उस ध्वनि के उत्पन्न विभिन्न ध्वनियों को ध्यान में रख लिया था। उन्हीं के आधार पर चौदह मांहेश्वर सूत्रों की रचना की गई जिन पर उसका विख्यात व्याकरण ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' आधारित है।

रचना एवं बनावट

डौंर का स्वरूप हुड़की जैसा ही है। परन्तु आकार–प्रकार की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है। हुड़की का आकार आयताकार होता है तथा डौर लगभग वर्गाकार चार के अंक के समान होता है। यह (सादंण) सागवान की ठोस लकड़ी से बनाया जाता है। इसके फ्रेम की दीवार डेढ़ इंच मोटी होती है। इसकी लम्बाई लगभग आठ इंच होती हैं तथा उसी अनुपान से दोनों छोरों की पुडियों का व्यास लगभग आठ इंच होता है। डौंर की खाल मोटी होती है। 12 कुण्डली रन्ध्रों से डोरियाँ पिरोकर डौंर की दोनों पुडियों को चढ़ाया जाता है एवं शेष डोरी की डौर के मध्यभाग पर लपेट दिया जाता है। डोरिका की इसी लपेटी हुई पट्टी के अन्तराल से एक इंच काष्ट मेखला पिरोई जाती है। यही मेखला उस लपेट को आवश्यकतानुसार कड़ी और ढ़ीली करने के उपयोग में आती है।

वादन विधि

वादक ढोल की तरह डमरू को लाकुड; छोटी लकड़ी और हाथ से बजाते हैं। घुटनों की बीच डमरू को रखकर डौंरिया, दाहिने हाथ से लाकुड से डौर पर शब्द करता है और बांये हाथ से शब्दोत्पत्ति में अंगुलियों का संचार कर आवश्यक देवताओं की तालों की उत्पत्ति करता है। चर्मवाद्यों में डौर ही ऐसा वाद्य है, जिसे कन्धे से नहीं लटकाया जाता अपितु दोनों घुटनों के बीच इस प्रकार स्थिर किया जाता है कि ऊपर की पुड़ी की दांये हाथ की यष्टिका तथा नीचे की पुड़ी को घुटने के नीचे से

होते हुए बांये हाथ से बजाया जा सके। जिस हाथ में यष्टिका नहीं होती, घुटनों के दबाव तथा यष्टिका की प्रकीर्ण प्रहार द्वारा डौंर से प्रायः गुरू गम्भीर नाद की उद्‌भूत होता है, जो सर्वथा रौद्र तथा लोमहर्षक होता है। डौंर (डमरू) के साथ कांसे की थाली भी अनिवार्य रूप से दूसरे वादक द्वारा बजाई जाती है।

डौंर वादक ब्राह्मण पुरोहित ही होते हैं। इसे घडियाली, घडियाला या घडियालों कहते हैं। घडियाल्या देवशक्ति के आवाहन, नर्तन एवं पूजन के लिए ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा जागर डौंर–थाली बजाकर नृत्य करते हैं या कभी घर्याभूत, आछरी, रणभूत और भूत नचाने के लिए भी घडयाल्या इनके जागर गाकर नृत्य करवाता है। शेष नृत्य को नाचने का काम औजी ही करते हैं, इनका वादन मात्र देवस्थानों अथवा मकान की निचली मंजिल (ओबरा) में किया जाता है। इसी स्थान पर देवनृत्य आछरी नृत्य, भूतनृत्य इत्यादि करते हैं। डौंर मुख्यतः गढ़वाल व कुमाऊँ का वह छोर जो गढ़वाल से मिलता है, वहाँ का लोकवाद्य है। कुमाऊँ के जिस क्षेत्र में परियां नचाई जाती हैं अथवा उनकी जागा लगाई जाती है, उसे घन्याली लगाना कहते हैं। घन्याली कुमाऊँ में भी अधिकतर डौंर पर लगाई जाती है। इसी क्षेत्र में सिदुवा रमौल का 'श्री नाथ जी' के रूप में जागर लगाया जाता है। गाथा गायक (जागरिया) इस गाथा को डौंर पर गाता है। 'श्री नाथ जी' के साथ परियाँ भी इस जागर में नृत्य करती हैं। इस समय डौंर के साथ कांसे की थाली भी एक सहायक वाद्य के रूप में बजाई जाती हैं लोकवाद्यों के विद्वान बताते हैं कि इसमें 22 तरह की तालें बजाई जाती हैं कुछ लोक वादक बताते है कि डौंर में 36 और कुछ लोकवादक 84 तालों के बजाये जाने का उल्लेख भी करते हैं।

ढ़ोलक अथवा ढ़ोलकी

उत्तराखण्ड में यह वाद्य बाद्‌दी अथवा बेड़ा जाति के लोक प्रयुक्त करते हैं, यह बहुत ही लोकप्रिय वाद्य यंत्र है। ढोलक जिसे ढ़ोलकी के नाम से भी पुकारा जाता है। प्रदेश में पाये जाने वाले ढोल अवनद्ध वाद्य का ही छोटा रूप है। यह वाद्य सदियों से यहां की लोक संस्कृति व लोकसंगीत से जुड़ा हुआ है। कीर्तन, जागरण तथा घरेलू कार्यक्रमों में इसका प्रयोग सर्वाधिक होता है।

उत्पत्ति

'ढोलक' मृदंग से मिलता जुलता वाद्य है। भारत के अन्य राज्यों में ढ़ोल को ढोले या ढक के नाम से भी पुकारते हैं, क्योंकि यह वाद्य रचना एवं आकार आदि में 'ढ़ोल' से मिलते–जुलते हैं। ढोलक यहां पर पाये जाने वाले बड़े ढोल का ही एक छोटा रूप है अतः इस वर्ग की उत्पत्ति एक ही समय में हुई लगती है। बाद में निर्माण करते समय विभिन्न प्रकार के छोटे ढोलों की रचना की गई।

रचना एवं आकार

उत्तराखण्ड में ढोलक चुनारा (लकड़ी के बर्तन वाला शिल्पकार) बनाते हैं। आमतौर पर यह आम या साल की लकड़ी से बनी होती है। इसकी पुड़ी लंगूर या कारवड़ की खाल की अधिक उपयुक्त मानी जाती है। ढोलक की बाई पुड़ी पर भीतर से सियार की चर्बी और अरण्डी के बीज से बनी स्याही चिपकाई जाती है, जिससे वह गूँज प्रधान रहती है और दाईं पुड़ी पर स्याही नहीं लगाई जाती है। अतः यह टीप के सुर पर रहती है। लोहे अथवा पीतल के कुण्डलों से ढोलक को आवश्कयतानुसार सुर किया जाता है। कन्धे पर लटकाने के लिए कन्डोटी सूत की बनी होती है। परन्तु इसमें ढोल के समान कन्दोटी को साधने के लिए चाक नहीं होते अपितु डोरी के अंश को ही ढोलक के दोनों किनारों पर लपेटकर उससे कन्दोटी के दोनों सिरों को जोड़ दिया है। इसकी लम्बाई लगभग 16 इंच से 18 इंच तक तथा दोनों मुख लगभग 8 या 9 इंच गोलाई के होते हैं, जिन पर 9 व 10 इंच चौड़ाई का गोल चमड़ा चढ़ाया जाता है। इसके मध्य की परिधि लगभग 38 इंच होती है। स्वर चढ़ाने व उतारने हेतु तांबे या लोहे के 9 या 10 कड़े ढोलकी को कसने वाली रस्सी पिरोयी जाती है।

वादन शैली

ढोलक या ढोलकी को दोनों मुखों पर हाथ से नीचे बैठकर बजाया जाता है। गीत अथवा नृत्य के अनुसार तालें बजाई जाती हैं। ढोल की अपेक्षा थोड़ा कम प्रहार द्वारा इस वाद्य को बजाया जाता है। परन्तु गीत या नृत्य की गति के अनुरूप ही इसका धीमा या ऊँचा वादन होता है। यह बहुप्रचलित वाद्य होने के कारण भजन–कीर्तन, सत्संग, पूजा पाठ, उत्सवों, होलियों, शादी–विवाह आदि में बहुतायत प्रयुक्त किया जाता है। अतः यह महिला प्रधान लोकवाद्य भी हैं।

नगाड़ा

यह उत्तराखण्ड का प्रचलित वाद्य है जिसका प्रयोग प्राचीन काल से होता चला आया है। यह दमाऊँ का ही वृहत रूप है जिसे स्वयं इसे बजाने वाले दास प्रायः मढ़ा करते हैं।

उत्पत्ति

नगाडा वाद्य की उत्पत्ति वैदिक काल से मानी गई है। प्राचीन काल में यह लकड़ी का बनाया जाता था और इसका आकार बड़ा होता था, इसे दो डंडियों द्वारा दोनों हाथों से बजाया जाता था। कहा जाता है कि अष्टधतु के नगाड़े प्राचीनकाल में राजाओं द्वारा रणक्षेत्र की यात्रा करते समय एवं युद्धभूमि में इसकी गर्जना से सैनिकों व वीरों का उत्साहवर्धन करने हेतु इसका प्रयोग होता था। राजशाही समाप्त होने के बाद राजाओं ने इन्हें मन्दिरों में चढ़ा दिया। भक्त कवियों तथा संगीत

सारादि ग्रंथ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत रत्नाकर के वाद्य दुन्दुभि को ही नगाड़ा भी कहा जाने लगा था, भारत की प्राचीन गुफाओं तथा मन्दिरों के भितिचित्रों तथा मूर्तियों में इस प्रकार के वाद्यों का वादन देखने को मिलता है। नगाड़ा जाति के अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग प्राचीनकाल से ही युद्धों, मन्दिरों, लोकसंगीत तथा विभिन्न सामाजिक अवसरों पर किया जाता है। नगाड़ा जाति का उत्तर भारतीय संगीत में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है।

रचना एवं बनावट

वर्तमान समय में नगाड़े पीतल और तांबे के बनाये जाते है। इसमें दो विभिन्न ध्वनियों को प्राप्त करने के लिए इसके दो भाग कर दिए गए। आकार में छोटे भाग मादा को 'झील' या अघोटी कहते हैं, जो मिट्टी या लोहे से बना चमड़े से मढ़ा होता है। चर्माच्छाब चर्म रज्जुओं से कसा जाता है। दूसरा भागशंकु के आकार का धातु का बना होता है जिसे 'नर' अथवा धमा कहते हैं। इनको मढ़ने के लिए भैसें की खाल की मोटी चमड़ी का प्रयोग किया जाता है तथा रस्सी के तौर पर भैसे की आंत से बनी रस्सी ही प्रयोग में लाई जाती है। चार वर्ष के भैंसे की खाल ही सूखकर सख़्त हो जाती है। इसे बजाने योग्य नरम, लचीला व अच्छी आवाज़ प्राप्त करने के लिए 1–2 दिन तक घी में भिगोया जाता है। जिससे यह पुड़ी नरम हो जाती है पुड़ी को नरम रखने के लिए काले तिलों को पीसकर उसकी लेई बनाकर पुड़ी पर इसका लेप किया जाता है। यह लेप एक वर्ष में 3–4 बार किया जाता है। इस लेप करने को क्षेत्रीय भाषा में नगाड़े पर 'तिलाग लगाना कहते हैं। नगाड़े का वादन दो शंकु आकार की एक हाथ लम्बी गोल लकड़ियों से किया जाता है। इसका नाद गहरा, गम्भीर व बहुत देर तक सुनाई देने वाला होता है, मूलतः यह युद्धक्षेत्र का वाद्ययंत्र है।

वादन शैली

नगाड़ा वाद्य को नीचे रखकर अथवा किसी ऊँची जगह पर रखकर लकड़ी की डन्डियों की सहायता से बजाया जाता है। कुशल नगाड़ा वादक इस पर विभिन्न प्रकार की लयकारियाँ बजाकर आनंद की रसोत्पत्ति कराता है। इसका वादन दुगुन, चौगुन इत्यादि लयों में किया जाता है। नगाड़ा इस पर्वतीय प्रदेश में मंदिरों में नौबत लगाने के लिए प्रयोग किया जाता है। जिसे कुमाऊँ की लोकभाषा में 'ढोल्यारा लगाना' कहते हैं। मन्दिरों में नौबत तीन बार लगाई जाती है। इसका प्रयोग आजकल बड़े–बड़े धर्मिक अवसरों अथवा मंदिरों में घुंयाल के अवसर पर व सरौं नृत्य के साथ किया जाता है। मंदिरों में नगाड़ा हर कोई नहीं बजा सकता। कुछ पुश्तैनी ढोली ही वंश परम्परा के रूप में नगाड़े बजाते हैं। अष्टधातु के नगाड़े को सामन्ती काल में घतिया नगाड़ा के नाम से जाना जाता था।

अपनी भंयकर गर्जनायुक्त आवाज से दूर–दूर तक संदेश देने के लिए प्रयुक्त होने के कारण ही इसे घतिया नगाड़ा कहा जाता है।

डफली

डफली एकान्तिक रूप से बजाया जाने वाला छोटा सा वाद्य लोकवाद्य है, जिसमें वादक अपने मन की भावनाओं के अनुरूप डफली की ताल पर गीत गाता है।

रचना एवं बनावट

यह गोल छल्लेनुमा वाद्य है। इस गोल छल्ले की चौड़ाई लगभग 2–3 इंच की होती है, जो लकड़ी का बना होता है। इसके मुख का अर्धव्यास लगभग 4 इंच के लगभग होता है। इसके एक ही ओर पुड़ी चढ़ाई जाती है। जो हिरन, काखड या बकरी आदि की खाल से मढ़ी होती है। वर्तमान में धातु की पट्टियों वाली डफली का चलन हो गया है। इसके फ्रेम पर घुंघुरू, टिन तथा पीतल की टिकडियाँ भी लगाई जाती है। यह नाथपंथी योगियों का वाद्य भी माना गया है। इसकी पुड़ी पर गति के साथ अंगुलियों से जो ताल बजाई जाती है उसके साथ इसके बाहरी फ्रेम में लगे घुघंरू अथवा धातु की टिकाडियाँ भी बजने लगती है जो इसकी तालों को सुन्दर व रंजक बनाती है।

वादन शैली

छोटी डफली को एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ से बनाया जाता है। जबकि बड़ी डफली का एक ओर कांधे पर रखकर ही बजाते हैं, सामान्य रूप से यह एक ताल वाद्य है। वर्तमान में इसका प्रयोग लोक संगीत सुगम संगीत एवं भजन कीर्तन आदि में किया जाता है।

थाली

यह उत्तराखण्ड के प्रमुख वाद्यों में से एक है जो लयवाद्य के रूप में प्रतिष्ठित है। यह देवपूजानुष्ठान अथवा मांगलिक अवसरों पर प्रयोग किया जाता है। स्थानीय बोली में लोकगायक इसे कंसासुरी थाल के नाम से पुकारते हैं।

उत्पत्ति

थाली की उत्पत्ति अन्य घन वाद्यों से मानी गई हैं। इस प्रकार के मिलते जुलते वाद्यों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों मंदिरों तथा अन्य कलाकृतियों से प्राप्त होती है।

रचना एवं बनावट

यह कांसे का बना गोल तश्तरी के समान एक बड़ा छिछला पात्र होता है, जिसका किनारा ऊपर की ओर मुड़ा रहता है।

वादन विधि

इस वाद्य को केवल ब्राह्मण पुरोहित ही बजाते हैं, इस वाद्य को चावल से भरे एक पाथे (नापने का मात्र) के ऊपर रखकर छोटी पतली डंड़ियों से बजाया जाता है। काँसे की थाली बजाने वाला बांये अंगूठे पर थाली को टिकाता है और दाहिने हाथ से लाकुड (लकड़ी) की थाली मारता है जिससे डौंर के शब्दों के अनुसार शब्द निकलते हैं। देवताओं का यह वाद्य बहुत ही सुरीली–ध्वनि का होता है। देवनर्तन के अवसर पर डमरू–थाली वाद्य ही प्रयुक्त किये जाते हैं जिसकी लय पर देवनर्तन किया जाता है। इस वाद्य का प्रयोग डौंर के साथ सहायक वाद्य के रूप में किया जाता है। डौंर–थाली का सहवादन घटिपाली, घडियाला या घडियालो कहलाता है। इसका प्रयोग जागर लगाने में भी किया जाता है।

घण्टा (घांड)

यह वाद्य आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण है। यह उत्तराखण्ड में स्थित प्रत्येक देव–मंदिरों तथा धर्मिक स्थानों पर वाद्य के अन्य प्रकार भी प्राप्त होते हैं, ऐसा कोई भी मंदिर नहीं जहाँ यह वाद्य उपलब्ध न हो। देव–पूजा में घंटा या इसके अन्य प्रकार में आने वाले घण्टियों का नाद आवश्यक माना जाता हैं। घण्टा वाद्य तथा उसके प्रकार घन वाद्यों के अन्तगर्त आते हैं।

उत्पत्ति

घण्टा वाद्य तथा उसके प्रकारों की उत्पत्ति का समय वैदिक युग से माना गया है। पुराणों के अनुसार भगवान विष्णु को घंटा वाद्य प्रिय था। डॉ॰ लालमणि मिश्र के अनुसार, वर्तमान समय में हिन्दु मंदिरों के जो विभिन्न प्रकार के घंटे टंगे रहते है उन्हीं को 'संगीत पारिजात' तथा 'संगीतसार' में 'कल्पतरू' आकार के घण्टे से बड़ा बताया गया था और इतना भारी था कि उसे हाथ से उठा पाना सम्भव नहीं था। घंटो को तालवाद्य के साथ–साथ पौराणिक वाद्य भी कह सकते हैं। इसके बारे में भगवान विष्णु ने स्कन्ध पुराण में भी स्वयं वर्णन किया है।

रचना एवं बनावट

घण्टा वाद्य का निमार्ण पीतल, जस्ता, तांबा आदि धातुओं के मिश्रण से बना होता है। इसका चक्र मुख लगभग 7 या 8 इंच अथवा छोटा बड़ा होता है।इसका मध्य भाग 2 या 3 इंच नीचा रहता है। इसके ठीक नीचे एक रंध्र होता है जिसमें डोरा पिरोया जाता है जो अंदर के चक्राकार घेरे के अनुरूप होता है। यह लगभग 2 या 3 इंच लम्बा बनाया जाता है। जिसकी ध्वनि कानों को अच्छी लगती है। बीच में इस धातु पिंड की लटकाने के लिए सूत्र को एक ग्रंथी से ग्रन्थित कर देते हैं।

वादन विधि

यह मंदिरों में रस्सी अथवा जंजीरे के द्वारा लटकाया जाता हैं तथा आरती पूजा के गायन के समय शंख के साथ लय वाद्य के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इस घण्टे के अन्दर घण्टी के समान ही एक बड़ी घुण्डी लगी होती है जिसे हिलाने पर घण्टे की भीतरी सतह पर आघात होने से मधुर नाद की उत्पत्ति होती है।

मंजीरा

मंजीरा घन वाद्यों के वर्ग में आता है। यह वाद्य भी उत्तराखण्ड के प्रायः प्रत्येक मन्दिर तथा पूजा स्थलों अथवा कई आम घरों में भी पाया जाता है। इसके कई रूप एवं आकार देखने को मिलते हैं।

उत्पत्ति

मंजीरे के सम्बन्ध में कोई अध्कि प्रमाण नहीं मिलते हैं। परन्तु फिर भी प्राचीन मन्दिरों, गुफाओं, पत्थर की मूर्तियों की चित्रकारी से यह आभास होता है कि यह वाद्य प्राचीन समय से ही प्रयोग में लाया जाता है।

रचना एवं बनावट

यह पीतल की दो गोल कटोरीनुमा आकार में बना होता है। कटोरी की मोटाई लगभग एक सूत से डेढ़ सूत तक होती है। कटोरी का व्यास 2′ से 4′–5′ तक होता है। इन कटोरियों के मध्य छेद होता है। दोनों कटोरियों एक दूसरे से इन्हीं छेदों द्वारा पतली व मजबूत डोरी द्वारा आर–पार बंधी होती है। डोरी की लम्बाई लगभग 1 फीट से डेढ़ फीट तक होती है।

वादन शैली

मंजीरों की बीच में पिरोई सुतली को दोनों हाथों में अलग–अलग फंसा कर दोनों मंजीरों को आपस में टकराकर ध्वनि उत्पन्न होती है। धातुओं के मिश्रणरूप, वजन व आकार पर मंजीरों से उत्पन्न ध्वनि निर्भर करती है। मंजीरों को लय के अनुसार बजाया जाता है। इस वाद्य को कोई भी लय को जानने वाला व्यक्ति बजा सकता है। इसका वादन तीनों लयों में होता है।

घडियाल

यह उत्तराखण्ड में पाया जाने वाला घन वाद्य है।

उत्पत्ति

घडियाल वाद्य की उत्पत्ति का समय वैदिक काल से माना गया है उस समय से अभी तक इस वाद्य का प्रयोग व्यापक रूप से होता आ रहा है। इसकी उत्पत्ति भी अवश्य ही वैदिक काल के घण्टा

वाद्य के साथ की गई होगी। इसके विषय में हमें प्राचीन समय के ग्रन्थों में कई प्रमाण मिलते है।। हिन्दू मंदिरों में पूजा, आरती के समय को मापने हेतू प्रयोग किया जाता है।

रचना एवं बनावट

यह पीतल तथा तांबे के मिश्रण से बना एक मोटा तथा भारी चक्राकार वाद्य होता है जो लकड़ी के हथौड़े से बजाया जाता है। यह घडियाल घण्टे से बड़ा तथा भारी होता है। इसे कंसेरी भी कहा जाता है। इसका उपयोग 30–40 वर्ष पूर्व ढोल नगाड़े के साथ छोलिया नृत्य में किया जाता था। इसके चक्के का व्यास 8′ से 12′ तक होता है।

वादन शैली

घड़ियाल को उसके ऊपर बंधी हुई सुतली से दायें हाथ द्वारा नीचे की ओर लटाकर बांये हाथ में पकड़े लकड़ी के हथौड़े के साथ लयात्मक ढ़ग से प्रहार किया जाता है। जोर से आघात करने पर ध्वनि अधिक तथा कम आघात से नीची ध्वनि उत्पन्न होती है।

घुंघरू

घुंघुरू का प्रयोग पूर्वकाल से ही एक कर्णप्रिय व सहायक वाद्य के रूप में होता है। यह घन वाद्यों की श्रेणी में आता है।

उत्पत्ति

इसकी उत्पत्ति के विषय में प्राचीन संगीत शास्त्रीय ग्रन्थों में 'क्षुद्रघण्टा' तथा क्षुद्रघंटिका का विवरण मिलता है। आधुनिक काल में यह घुंघरू के नाम से प्रचलित हो गया।

रचना एवं बनावट

यह अधिकांशतः पीतल के गोल आकार को बनाकर एक ओर बीच में चीर कर बनाये जाते हैं और उनमें एक–एक लोहे की छोटी गोली अन्दर डाली जाती है। ये आकार में अंगूर जितने या उससे कुछ बड़े होते हैं इन्हें डोरी में पिरोकर नृत्य करते समय पैरों में पहना जाता है।

वादन विधि

घुंघरूओं की नृत्य में एक विशेष भूमिका होती है। उत्तराखण्ड में व्यवसायिक अथवा पेशेवर जातियां इसका प्रयोग करती हैं। 'बादीण' पैरों में पहनकर नृत्य करती हैं। लोकनृत्य से लेकर शास्त्रीय नृत्य में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। भजन कीर्तन या कई बार लोक गीत में लय वाद्य के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त उत्तराखण्ड के भेड़, बकरी इत्यादि के गले में ध्वनि बोध हेतु घुंघरू वाद्य लटकाये जाते हैं।

करताल

करताल को स्थानीय भाषा में खड़ताल कहते हैं करताल का शाब्दिक अर्थ कर–हाथ ताल–ताली बजाकर ताल देना। यह एक साधारण सा ताल वाद्य है जो घनवाद्यों की श्रेणी में आता है।

उत्पत्ति

खड़ताल वाद्य की उत्पत्ति प्राचीन काल से मानी गई है। प्राचीन समय संत गायकों व वादकों द्वारा यह वाद्य अधिक प्रयोग में लाया जाता था। वे एक हाथ में एक तारा तथा दूसरे हाथ में खड़ताल का वादन करते थे। सामूहिक रूप से भजन, कीर्तन आदि में प्रयोग व्यापक था। आधुनिक समय में भी इस वाद्य का प्रयोग लोकसंगीत में भक्ति संगीत तथा नृत्य में किया जाता है।

रचना एवं बनावट

खड़ताल वाद्य का निर्माण दो ठोस लकड़ी के चतुर्भुज आकार के टुकड़ों के साथ किया जाता है। इसमें झनझनाहट की ध्वनि पैदा करने हेतु लोहा, तांबा अथवा पीतल इत्यादि धातुओं के गोल झांझों को इसके बीच में लोहे की मेखों द्वारा लगाया जाता है। जिससे यह हिलडुल जाती है। खड़ताल वाद्य की लम्बाई 6 से 10 इंच तक अथवा आवश्यकतानुसार तथा चौड़ाई 2 या 3 इंच होती है। इसके एक टुकड़े अर्थात् भाग के बीच में अंगूठा पहनाने योग्य स्थान तथा दूसरे भाग में बाकी चारों उंगलियों को पहनाने का स्थान होता है।

वादन शैली

खड़ताल के दो भागों में एक को अंगूठे में पहनकर तथा दूसरे भाग को चारों उंगलियों में पहनाकर दोनों हो आपस में टकराने से ध्वनि उत्पन्न होती है। इसका वादन विभिन्न लयों में आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। इसका प्रयोग सामान्यतः घरों एवं मन्दिरों में भजन–कीर्तन आदि में किया जाता है। यह वाद्य साधरण होने के कारण लोक में पुरातन काल से प्रचलन में है।

खंजरी

यह डपफली की तरह का वाद्य है। आधुनिक समय में इसका व्यापक प्रयोग होता है। यह मुख्य रूप से एक ताल वाद्य है तथा यह घन वाद्यों की श्रेणी में आता है।

उत्पत्ति

इस वाद्य की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में कुछ विशेष जानकारी नहीं मिलती है।

रचना एवं बनावट

खंजरी गोलाकर होती है। यह आमने सामने खोखली दो–तीन इंच चौड़ी छः से बारह इंच व्यास की गोल पट्टी होती है जो लोहे या टिन की बनी होती है। इस पट्टी के बाहरी आवरण में धातु की टिकडियां लगी रहती है।

वादन शैली

इस वाद्य को बजाने में किसी विशेष तकनीक का प्रयोग नहीं होता है। केवल जो व्यक्ति लय जानता है, वह इसे बजा सकता है। यह वाद्य लोकगीतों के गायन में व भजन–कीर्तन, एक ताल वाद्य के रूप में प्रयोग किया जाता है।

झांझ

यह वाद्य बनाव में मंजीरे से थोड़ा बड़ा होता है।

उत्पत्ति

नाट्यशास्त्र में इसे कास्यातालिका अथवा इल्लरी के नाम से जाना जाता था, इसका प्रयोग सामूहिक लोकवाद्यों के साथ वादन में किया जाता है। कोणार्क (उड़ीसा) के मंदिरों में 13वीं शताब्दी की कई देवमूर्तियों में झांझ को इल्ली नाम से वादन करते हुए दिखाया गया है।

रचना एवं बनावट

झांझ की आमने–सामने की कटोरियों का व्यास 6 इंच से लेकर 12 इंच तक होता है। यह कांसे की पतली चादर से बनी होती है।

वादन विधि

इसका प्रयोग ढोल–दमाऊँ वादन के साथ छोलिया नृत्य में किया जाता है। मंदिरों में तीनों समय की नौबत लगाते समय दमाऊँ अथवा नगाड़े के साथ झांझ का उपयोग ताल मिलाकर किया जाता है। इसकी ध्वनि मधुर एवं झंकार लिये हुए होती है। वर्तमान समय में इसका उपयोग नाटकों में नाटकीय प्रभाव एवं ध्वनि प्रभाव उत्पन्न करने में किया जाता है।

चिमटा

उत्तराखण्ड में चिमटा लोकवाद्य के रूप में प्रयुक्त होता है। यह भी घन वाद्यों की श्रेणी में आता है। इसका प्रयोग लोकसंगीत में कई वर्षों से हो रहा है।

उत्पत्ति

यह एक लय वाद्य है। जिसकी उत्पत्ति लोकवाद्यों की उत्पत्ति के साथ ही मानी जा सकती है। इस वाद्य की उत्पत्ति के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है।

रचना एवं बनावट

यह लगभग 2–3 फीट लम्बा लोहे से बना होता है। इसकी दोनों भुजाओं में खंजरी और झांझ की भांति पीतल अथवा लोहे की टिकडियां लगी रहती हैं।

वादन विधि

इस वाद्य का वादन कोई भी स्त्री, पुरूष एवं बच्चे गीत की लय के अनुसार कर सकते हैं। लोकगीत के गायन में व भजन कीर्तन में ताल देते समय लोहे की टिकडियाँ मधुर ध्वनि उत्पन्न करती हैं।

अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि भाषा तथा बोली के उद्‌भव से पहले ही मानव ने अपने भावों को प्रस्तुत करने के लिए वाद्यों को सहारा लिया था। उत्तराखण्ड के लोकवाद्यों की यह विशेषता है कि प्रत्येक वाद्य का कोई न कोई सहायक वाद्य होता है।

संदर्भ

गुप्ता चित्रा, संगीत में तालवाद्यों की उपयोगिता, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
डबराल शिवप्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास भाग–4, वीरगाथा प्रकाशन, दुगड्डा, उत्तराखण्ड।
भट्ट हरिदत्त, गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, 1976।
नैथानी शिवप्रसाद एवं हरिमोहन, उत्तराखण्ड, संस्कृति साहित्य और पर्यटन स्थल, पवेत्री प्रकाशन, पौड़ी गढ़वाल, श्रीनगर, उत्तराखण्ड।
नौटियाल शिवानंद, गढ़वाली लोकसंगीत, संगीत नाटक अकादमी, उत्तर प्रदेश, 1989।
शास्त्रीय के॰ वासुदेव, संगीत शास्त्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, द्वितीय आवृत्ति, 1986।